

मौत,
क्यों आफत मोल ले रही हो, मैं
वेणु गोपाल हूँ

सितम्बर के पहले सोमवार को कैंसर से लड़ते हुए वेणुगोपाल का हैदराबाद में निधन हो गया। वे कहानीकार, पत्रकार और अभिनेता तो थे, इन सबसे ऊपर वे एक अद्वितीय कवि थे। वही उनकी पहचान थी। तेलंगाना और श्री काकुलम के साथ और इसके बाद हिंदी में कविता की जो धारा फूटी उसके प्रमुख और प्राणवान कवि के रूप में उनका गहरा मान था। वे अलग तरह के विद्रोही तेवर लेकर आये थे। लेकिन हिंदी में वे घोर उपेक्षा के शिकार हुये। कवि विष्णु खरे के अनुसार, 'वेणुगोपाल, धूमिल, राजकमल चौधरी और शलभ श्रीराम सिंह को कविता के परिदृश्य में ठीक से पहचाना नहीं गया।' वेणुगोपाल ने बेहद जटिल और बीहड़ जीवन जिया। उनका जीवन अंतर्विरोधों से भरा रहा और वह अभावों के बीच निरंतर साधनों की शोध में गुजरा। लेकिन जिजीविषा अंत तक वैसी ही बनी रही - अदम्य।



मेरी जिन्दगी पर जिन दो बड़े बुजुर्गों की सघन छाया रही वे नागार्जुन और भवानी प्रसाद मिश्र थे। जिन दो दोस्तों का गहरा साथ रहा उनमें से एक पर मैं काफी कुछ लिख चुका हूँ। उनका नाम था शलभ। यानी कि शलभ श्रीरामसिंह। दूसरे का नाम वेणुगोपाल था। जो कल 'है' और अब हमेशा और सब के लिए 'था' हो चुका है।

तीन चार साल पहले जब गैंगरीन के चलते उसकी एक टाँग काट दी गई तभी वह मेरे लिए आधा मर गया था। जैसे कि उसकी टाँग नहीं नहीं काटी गई, मैं ही आधा काट डाला गया। वह जो पाँवों को ही हाथी-घोड़ा, बस और रेल समझता था। जिसे यात्राएं ही पसन्द थी, पर पालथी मारना भी उन्हीं पाँवों से उसे ऐसा

आता था कि कहिए तो दिन के दिन न उठे। वही अब उन्हीं पाँवों में से एक के बिना हो चुका था। हैदराबाद की वे सड़कें जिसके चलते रहने से आजिज आ चुकी थीं, अब राहत की साँस जरूर ले रही होंगी। विदिशा और भोपाल की सड़कों ने जब इस हादसे के बारे में सुना होगा, जरूर गमगीन हो उठी होंगी। भले ही उनकी आँखें छलछलाई न हों, कुछ देर के लिए अँधेरा तो उनके सामने छा ही गया होगा। लेकिन मैं। जैसे वे टाँगें उसकी नहीं मेरी ही थीं – जिनमें से एक बेरहमी से काट डाली गई थी। फिर भी उसकी जिजीविषा का अपार सागर लहराता ही रहा।

कोई नहीं, लेकिन मैं जानता हूँ कि मैंने उससे बातचीत का सिलसिला खत्म-सा कर लिया था। और वो था कि अपने और मेरे प्रिय पात्रों के मार्फत यह सन्देश भिजवाता रहता कि अब यह होना है, तब वह होना है। इसी बीच उसकी छात्रा और मेरी प्रिय सखी वृन्दा का फोन पुणे से आया – ‘डॉक्टर साहब! वेणुजी कृत्रिम टाँग के लिए आने वाले हैं। कुछेक दिन रहकर यहीं उसकी प्रैक्टिस करेंगे।’ फिर भी मेरे लिए यह एक साधारण सी सूचना रही। क्यों? क्या इसलिए कि मैं कायर हूँ और स्थितियों का सामना नहीं कर सकता? या फिर अवास्तविकतावादी, जो हवा में ही रहा करता है? या फिर वह जो या तो भरी-पूरी दुनिया में अपनी समूची रंगीन इच्छाओं के साथ जीना जानता है या फिर जीवन की निरीहताओं पर थूकता हुआ मौत के गले में अपने हाथों के फन्दे इस तरह डाल देता है जैसे कोई बच्चा अपनी माँ की गोदी में आने के लिए मचलकर डाल देता है। पर यह कोई अदा नहीं है उस देश में जिसमें ‘हृदयेन अपराजितः’ जैसी बात कही गई हो।

देह धारण किया है तो उसके दण्ड भी भुगतने ही पड़ेंगे- यह कबीर के कहने पर भले ही समझ में न आया हो, वेणु के जीने के अंदाज़ को देखने और महसूस करने के बाद तो जैसे अपने सारे अर्थों के साथ प्रकाशित सा हो उठा। सच्चाई जबकि यह पहले जैसा कुछ भी नहीं था। अगर था तो वेणु का वह आत्मबल, वह जिजीविषा, जिसे भारत के लोग सदियों नहीं, युगों से जानते आए हैं। अगर भूल भी गए हों या अपनी जड़ों से विच्छिन्न होकर किन्हीं सांस्कृतिक अज्ञानों में चले गए हों तो उनकी मदद उस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने किया हो जो संघर्ष को ही जीवन और जीवन का दूसरा नाम और अर्थ संघर्ष जानता है।

यों वेणु का बचपन हैदराबाद के किशनबाग वाले मुहल्ले में ही नहीं, उस जगदीश मन्दिर के अहाते में खेलते-खाते गुजरा था, जहाँ उसका पहला परिवार, बेटे-बेटियाँ अपनी स्नेहिल माँ के साथ अब भी रहते हैं। वेणु खुद भी जिस मन्दिर की जायदाद को अपने हक में करने के लिए न केवल मुकदमें लड़ता रहा, हैदराबाद के जाने-माने सामाजिक (?) माफियाओं की मदद पाने के लिए उनसे दोस्तियाँ भी गाँठीं। इतना ही क्यों? अपने उन किरायेदारों से और स्तर पर निपटने के लिए ढाई लाख गायत्री मंत्र के जाप भी किए। उसके न रहने पर आज यह कहना कितना कठिन हो गया है कि उसका विश्वास सचमुच कहाँ था? अपने उन भोले उद्यमों (?) में जिन्हें वह बतौर पुरुषार्थ करता चल रहा था या फिर उन अंधविश्वासों में जिन्हें कुछ लोग आध्यात्मिकता कहते हैं और उनकी पैशाचिक ताकतों में यकीन रखते हैं।

तो क्या वेणु मुक्तिबोध का ब्रह्मराक्षस था (यों शलभ उसे घटोत्कच कहा करता)। अपने प्राक्तन संस्कारों से लड़ता, उन्हें मैल की तरह मल-मल कर छुड़ाता फिर भी उनकी चपेट में आने पर जब कभी उनकी छाँह में शरणागत की तरह आश्वस्त हो सुस्ताता –

और... होठों से
अनोखा स्तोत्र, कोई क्रुद्ध मंत्रोच्चार
अथवा शुद्ध संस्कृत गालियों का ज्वार
मस्तक की लकीरें

बुन रहीं
आलोचनाओं के चमकते तार!!
उस अखण्ड स्नान का पागल प्रवाह...
प्राण में संवेदना है स्याह!!

इसी कविता में मुक्तिबोध लिखते हैं- 'मानवीय अन्तकथाएँ बहुत प्यारी हैं'। यहीं वे अपने सारे समकालीनों से उन की सारी जानी-पहचानी सच्चाइयों को बहुत पीछे छोड़ सबसे आगे खड़े दिखाई देते हैं मुझे। ये वही मुक्तिबोध हैं जो अपनी क्लासिक मानी जाने वाली रचना 'अंधेरे में' तिलक और गाँधी को पूर्वापरता के साथ लिए खड़े हैं। जो बार-बार 'ओ मेरे आदर्शवादी मन!' को संबोधित करते हुए गहरे आध्यात्मिक धिक्कार से भरे हुए हैं। सूर और तुलसी के बाद हिन्दी में यह तीव्र और प्रखर आत्मधिक्कार सिर्फ मुक्तिबोध में इस उदात्त ऊँचाई के साथ मिलता है। सरोज-स्मृति और राम की शक्तिपूजा वाले निराला को याद करते हुए भी, हम पहुँचते अन्ततः इसी निष्कर्ष पर हैं कि मुक्तिबोध इसमें अनूठे हैं। उन्हीं की पंक्ति है यह 'मानवीय अन्तकथाएँ बहुत प्यारी हैं।' किसी आदमी को समझने के लिए यह कितनी जरूरी पंक्ति है। वेणु के जीवन की 'अन्तकथाएँ' कुछ ऐसी ही थीं। जितनी सुलझी उतनी ही उलझी-पुलझी और जटिल। वह चेग्वारा पर भी मुग्ध था, चारु मजुमदार पर भी। पर जवानी के भार से लदबद उस स्त्री पर भी, जिसे वह अपने काम-मनोविज्ञान के सघन अन्तजालों की मात्रा में फंसाकर अपनी जीवन संगिनी बना चुका था। जो कि वह पहले से पति और एक बेटी का बाप था। पर उसकी इस मान्यता का हम क्या करते कि क्रांति की प्रक्रिया ही नहीं, उसका चेहरा-मोहरा भी बेहद रोमान्टिक होता है।

में उसके इन तर्कों में प्रायः उलझ जाया करता। पर उसके पास दुनिया भर की ऐसी जानकारियाँ थीं। और मेरे पास सिर्फ रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खान, आजाद और भगतसिंह की। यशपाल जैसे की थी भी तो यही कि क्रांति के रास्ते पर ये घाती किस्म के लोग हैं और इन्हें प्राण-दान देने से कहीं बेहतर है मृत्यु-दान। पर जैसा मैंने पहले कहा -वेणु जितना भारतीय था, उतना ही पश्चिमी भी। जितना पुरोहित और पुजारी बजरिए पं. नन्दकिशोर शर्मा के, उतना ही वाममार्गी बौद्धिक भी।

यों इस बात को महसूस कर सकना उनमें से किसी के भी बूते के बाहर है। जिन्होंने भारी किताबें पढ़ी हैं पर उस जीवन का सामना नहीं किया है, जो उनकी पैदाइश के पहले से एक अविच्छिन्नधारा की तरह बहता चला आ रहा है, उनके चारों ओर है - धरती आकाश, हवा-पानी में व्यापा हुआ। वेणु को ये सब बातें संस्कारतः मिली थीं, चाहे-अनचाहे। वो करता क्या? तब भी उसने किया। अपने जन्मजात संस्कारों से निरंतर भिड़ता रहा। उसके रहन-सहन, उठने-बैठने, सोचने-समझने के तौर-तरीकों में जबरदस्त बदलाव होता रहता था। जैसे कि उसके निकट के मेरे जैसे लोग भी कहाँ जानते थे कि कवि श्री वेणुगोपाल वस्तुतः पं. नंदकिशोर शर्मा हैं। मुझे भी तभी जानने का मौका लगा जब वह शहर हैदराबाद छोड़ व्हाया भोपाल विदिशा आ बसा। तब तक विदिशा का मेरा निवास ऐसे घूमंत और 'आवारा' किस्म के साहित्यिक मवेशियों की ओपेन धर्मशाला के रूप में कुख्यात हो चुका था।

भोपाल से किसी कारण से उखड़ कर वेणु विदिशा आ गया तो हम तीन दोस्तों- रघुनाथ सिंह, कृष्णदेव उपाध्याय+मैं स्वयं - ने तय किया कि शहर को समृद्ध करने के लिए वेणु गोपाल जैसे कवि को बसाया जाना एक खूबसूरत उपक्रम होगा। लेकिन जिस एक सुविधा-सम्पन्न छात्र ने आगे बढ़कर इसमें पहल की उसका नाम अवध श्रीवास्तव था। उसके पिता प्रचण्ड हिन्दू सभाई और जाने माने वकील। अवध खुद बाद में एक सफल वकील हुआ। उसने ही आगे बढ़कर उन्हें और उनके परिवार के लिए लोहांगीपुरा के अपने ही एक किराए वाले मकान का एक खंडहरनुमा हिस्सा रहने को दे दिया, बिल्कुल मुफ्त। हम तीनों

पहली तारीख को अपनी तनख्वाह उठाते और सम्मिलित रूप से जाकर सबसे पहले वेणुगोपाल के परिवार के लिए माह भर के राशन-पानी का इंतजाम किया करते। आटा-चावल-दाल, तेल और मसाला। तब उसकी बेटी मीता दो या ढाई साल की रही होगी या फिर तीन की। पत्नी बेहद सीधी सादी, घरेलू गाय-सी। तभी एक दिन यह खयाल भी मन में कि क्यों नहीं वेणु एम.ए. कर ले और इस तरह कोई ढंग की नौकरी-वौकरी उसे मिल सके। पर यह काम सामने आया तो बेहद कठिन हो उठा। कवि जी तो बी.ए. भी नहीं थे। जो कि हमारे प्रिन्सिपल नायर सब तरफ से मदद को तैयार पर विश्वविद्यालय के नियम अपनी जगह। संयोग ही था कि वेणु साहित्य-रत्न था और थोड़ी-दौड़ धूप के बाद प्रवेश-पात्रता उसे मिल ही गई। वेणु अब मेरा दोस्त ही नहीं, कक्षा का छात्र भी हो गया। लेकिन हिन्दी विभाग के मेरे अध्यापक साथियों के लिए यह अच्छी खासी परेशानी की बात हो गई। एकाद को तो पसीना भी छूटने लगा। पर उस छोटे से शहर में उठना-बैठना तो शामों में साथ ही होता। अपरिचय का संकट तो था ही नहीं। वेणु भी कुछ संकोच कुछ आशंका कुछ अहंकार के मारे प्रायः क्लास से गैरहाजिर ही रहता। हमारे एकाध साथी कक्षा से उठाकर कैण्टीन ले जाते और वेणु से कहते - 'वेणु गोपालजी! आपके बैठने से मुझे पढ़ाने में दिक्कत आती है। अटेण्डेन्स तो मैं आपको दे ही दूंगा।' वेणु ने तब वैसा ही करना शुरू किया, विभागाध्यक्ष के नाते मुझे कुछ यों सूचित करते हुए - 'यार! अब।' 'यार' जी से तो मुझे कुछ नया मिलना नहीं है। फिर मेरे रहने पर वे असहज हो उठते हैं। बेचारे दूसरे छात्रों का नुकसान होता है। तुम कहो तो सिर्फ तुम्हारी क्लास अटैण्ड करूँ।' इस बहाने वो शायद मुझे भी तौलना चाहता रहा हो। फिर भी वो मेरी कक्षा में बैठता और जब कभी उपाध्यायजी (डॉ. कृष्ण देव) की भाषा-विज्ञान वाली कक्षा में। दूसरे साल तो वह महाविद्यालय की पत्रिका 'सर्जना' का संपादक भी बना और उसी के चलते वह पत्रिका का हम अध्यापकों के पढ़ने योग्य भी बनी। अन्ततः वह एम.ए. कर गया और तब मैंने अपने आदरणीय मित्र शरद जोशी को सगर्व सूचित किया - 'आप कह रहे थे न कि जब हम भोपाल वाले वेणु गोपाल को एम.ए. नहीं करा पाए तो तुम क्या करा लोगे, और मैंने करा दिया। अब कहिए?' शरदजी कहां हार मानने वाले थे। टिप्पणी की - 'हाँ। यह तो तुम्हारा ही कमाल होगा नहीं तो...।'

मैंने सोच लिया था पार्ट टाइम काम तो विभाग में ही मैं दिलवा लूँगा। जब तक प्लान करता और पी.एच.डी. की प्रारंभिक तैयारियाँ की जातीं, हैदराबाद से आघातपूर्ण समाचार लिए तार आ पहुँचा - 'पिताजी चल बसे'। और उसे सब जहाँ का तहाँ छोड़ जाना पड़ा। सपरिवार फिर वापसी तो संभव ही नहीं हुई। मंदिर का परिसर, उसके किराएदारों का संयुक्त दबदबा, सारी सम्पत्ति हड़प लेने की चाल और वेणु का उन महारथियों के बीच मजबूरन कूद पड़ना, इस-उस योद्धा के आशवासन के साथ। ऐसे योद्धाओं ने भले ही वेणु की कोई कारगर मदद न की हो पर उसे अभिमन्यु की तरह शहीद होने से तो बचाया ही बचाया। धीरे-धीरे वेणु खुद भी दुनियादारी के ढेर सारे गुर सीखता चला गया। कविता और उसके शब्द भले ही कुछ दूर हो गए हों - एक समय में-पर जीवन के अर्थ तो परत-दर-परत ठीक उसकी आँखों के सामने खुलते गए। वेणु अब एकदम कोरा नहीं था। उसमें एक गजब किस्म की धीरता और दृढ़ता कहिए मजबूती आ चली थी। दाँव-पेंच करना, चालें चलना उसे आया कि नहीं पर उन्हें 'फेस' करना तो आ ही गया था। ऐसे जन्मजात अव्यावहारिक के लिए यह भी क्या कम था? दाद में खाज यह कि अबवो दो बीबियों और दो-तीन बेटियों और बेटे का बाप था, वहीं, उसी हैदराबाद के अलग-अलग मोहल्लों में। मैंने गिना नहीं कि किशनबाग और रमन्तापुर में कुल कितने किलोमीटर की दूरी थी। मैं जाता तो शामें और रातें रमन्तापुर और दिन के दो एक घण्टे उसके मन्दिरवाले किशनबाग में इस सावधानी के साथ कि रमन्तापुर वालों को खबर न हो। पर कहाँ तक न होती। वो कभी-कभी इन पाटों की चक्की में पिसता भी। क्या जीवन था उसका? कैसा जीवट!

अब हैदराबाद के लोग जानें, उसका हैदराबाद कैसा था। वो बजरंग भगत, खुद उसकी जवान हो

चुकी बेटियाँ और पत्नियाँ। वहाँ के अधिकृत वृत्तान्तकार और वक्तव्यकार तो वहीं के लोग हो सकते हैं। या फिर सेन्ट्रल युनिवर्सिटी के डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह जिनके साथ वेणु ने अपना शोध कार्य किया और पी.एच.डी. प्राप्त की। थोड़े समय तक पढ़ाया भी। या फिर स्वतंत्रवार्ता के संपादक राधेश्याम शुक्ला जिनके एक प्रमुख सहयोगी के रूप में वो काम करता था और स्थानीय मारवाड़ियों के लिए कई धार्मिक मामलों का उदार लेखन किया करता था। या फिर उसकी पढ़ाई वे छात्राएं जिनके सुख-दुख में वो हर तरह से शरीक रहता और वे भी उसके प्रति आदर और श्रद्धा से भरी रहतीं। मैं जब भी गया, मैंने उन सबको उसके इशारों पर नाचते पाया एक सधी हुई बुजुर्गीयत और उन्मुक्त आचार्यत्व। तब विभागीय अध्यापकों को यह सब कैसे रास आता? यह भी तब कैसे संभव था कि वे इस सबको एक कवि की अदा मान माफ कर देते। काश! यह हो पाया होता तो सेन्ट्रल विश्वविद्यालय हैदराबाद को यह कहने का गौरव तो हासिल हो ही जाता कि वेणुगोपाल जैसे प्रतिभाधर उसके अध्यापकों में से थे। पर अब ऐसी कलचर कहाँ रही? इसे जिन्दा रखने वाले कहाँ बचे? सब एक से एक औसत। औसतों के बीच अपने निरन्तर औसत होते जाने की प्रतिद्वन्द्विता में बेजोड़। वेणु आखिर कितने मोर्चों पर लड़ता। आधी जान तो उसकी घरेलू मामले ही लें - लिया करते। वह कहता भी तो किससे??

मैं समझता हूँ कि विदिशा उसके जीवन का सबसे मनोरम काल था। वहाँ उसे प्यार करने वाले तमाम तरह के लोग थे। कुछेक हैरत से देखने वाले भी। पर दुश्मन तो एक भी नहीं। कारण यह कि विदिशा की आबोहवा में नागार्जुन-भवानी प्रसाद मिश्र की गरिमा, शलभ श्रीरामसिंह का अराजक तेज, माहेश्वर तिवारी के रेशमी गीतों की झंकार खुद विजय बहादुर सिंह के विवादास्पद अध्यापक की ढेर सारी फितरतें पहले से एक साथ मौजूद थीं। क्या गायक क्या वादक, क्या कवि-पत्रकार, वकील और डॉक्टर या फिर उस अति पुरातन शहर की ऐतिहासिक बावड़ियों से निकलने की उमंग से भरे नौजवान-सब ने अपना एक और अघोषित विदिशा रच लिया था। वेणु गोपाल हो या शलभ सब इसी लोक के देवता थे।

वेणु के चले जाने पर भोपाल का आहत होना स्वाभाविक है क्योंकि यहाँ भी उसे प्यार करने और बर्दाश्त करने वाले लोग थे ही, हैं भी, पर विदिशा तो अब भी ठीक हैदराबाद की तरह शोक में डूबा होगा। वह 'ठाकुर साहब' का घर जहाँ वेणु ने दूसरे विवाह के बाद आपात-शरण ली, फिर वीरा उसी घर में अपना विद्यार्थी-काल मनाती हुई दो सालों तक किराएदार रही। जैन महाविद्यालय के हिन्दी विभाग का वह छोटा-सा कक्ष जिसमें वे दोनों काल-क्रम में छात्र की तरह बैठते रहे। वह लोहांगीपुरा, दुर्गानगर, किले अन्दर की आबादी-सघन सड़कें। सबसे ज्यादा तो स्वर्णकार कालोनी का वह अड़तालीस नम्बर का मकान जहाँ अपना अपना कमण्डल और चिमटा लेकर सब एक साथ आ जुटते थे। अब वे सारी जगहें उदास और निस्तेज हो उठी होंगी।

कहते हैं, अपने किसी प्रिय के शोक में डूबे मन की स्मृतियाँ अधिक सघन और प्रखर हो उठती हैं। वेणु की प्रियता का राज क्या रहा होगा आखिर? उसका रूप रंग तो कोई बहुत लुभावना था नहीं। आकर्षक भी नहीं कहा जा सकता। कपड़े-लत्ते भी उसके यों कि बस पहनना हो जाय। सिर के बाल आधे उठे आधे बिखरे हुए। चेहरा ताश के पत्ते सा चौकोर और रंग मटमैला। फिर भी उसकी आवाज़ में आकर्षण था जो शास्त्रीय गायकों की तरह बिल्कुल नाभि से निकल उसके चौड़े-मोटे होठों से जब फूटती थी दूसरों को खींच लिया करती थी। उसकी सोच में दम था जो हर बंद दिमाग को खोलने का दम खम दिखाती रहती थी। उसकी कल्पनाओं में उड़ान भरने की ताकत थी जो अपने साथ उन सबों को सुदूर आसमानों तक उड़ा ले जाया करती थी जिनके भीतर ऊँचाईयों को छूने और उनसे बातचीत करने का हौसला था। इसमें क्या शक कि वह सरापा कवि था और एक दम खरा।

याद है, उसकी एक बहुत ही जनप्रिय कविता थी जिसे वह आम श्रोताओं के बीच सुनाया करता था। कविता में एक ट्रेन है, जो कहीं किसी खराबी की वजह से बीच रास्ते में फँस गई है और दूसरा-तीसरा आदमी अपनी बोरियत काटता एक दूसरे से पूछ रहा है कि इस ट्रेन को क्या हुआ। अन्ततः एक आदमी आगे आकर कहता है कि आलतू फालतू सवाल पूछने से कहीं बेहतर है इंजन के पास चलें, मिल-जुलकर धक्का लगाएँ। यही आदमी कहता है और कोयला मैं झोंक दूंगा।

यह बड़ी मोटी कल्पनाओं वाली कविता थी रूपकधर्मी। फिर भी लोगों को एजुकेट करती थी। इसमें यथार्थबोध तो था पर वह आलोचनात्मक यथार्थवाद नहीं जो कुल मिलाकर निन्दात्मक भर बचा था। लोकशक्तियों को जगाने का इसमें अपूर्व बल था। भले ही यह हिन्दी कविता का नववामवादी तेवर कहा जाय पर इसकी ध्वनियों में भारतेन्दु और मैथिलीशरण गुप्त की अनुगूँजों का अर्थ संगीत भी शामिल था। वह गहन लगाव और प्यार भी जिसके बगैर कोई सच्ची जनकविता संभव नहीं हो पाती। वेणु की कल्पनाओं का ठाट भी एकदम ठेठ देसी था। विचारों का आक्रामक तेज लिए हुए होने पर भी उसके कथनों में ऐसी आत्मीय विटास थी जो उसके पाठकों को उसके आशयों और निहितार्थों के करीब खींच लाया करती थी। वे पाठक मात्र नहीं उसके यात्रा-सहचर बन जाया करते थे।

मुझे आज भी वेणु की जो कविता बेहद प्रिय है वह कुछ यों शुरू होती है - 'सफर पर निकल तो पड़े हो, मगर थैले में सामान क्या क्या रखा है'। पहला ही प्रश्न है कि अपना सूरज रखा है कि नहीं? वह नहीं जो सबके सिरों पर चमकता है। कविता में आगे एक बिम्ब खासतौर से आता है जिसे वेणु जैसे कवि ही आयोजित कर सकते थे - 'और थोड़ा सा झाड़-झंखाड़ भी'। वेणु इस इमेज को लेकर बहुत असमंजस में रहा करता कि कहाँ से आ गई। उसके दिल्ली वाले दोस्त सलाह देते - इस कविता को संग्रह में नहीं रखना, कमजोर है। मैं बार-बार आग्रह करता और तर्क देता कि जरूर रखना, तुम्हारे दिल्ली वाले दोस्त क्या जानें कि जिन्दगी क्या होती है और उसका 'सफर' कैसे काटा जाता है। अंतिम फैसले से पहले उसने मुझसे पूछा- 'तुम्हें यह झाड़-झंखाड़ वाली इमेज क्यों इतनी जेनुइन लगती है?' अपनी सहज मेधा के सहारे मैंने कहा - 'इसलिए कि यहीं, इसी इमेज में तुम्हारा 'व्यक्तित्व' अद्वितीय और विरल लगता है मुझे। तुम कोई छायावादी कवि तो नहीं, फिर पिछले खेवे के प्रगतिवादी भी नहीं। चिकने-चुपड़े जनवादी भी नहीं हो। तुम्हें जीवन की सच्ची हकीकतों की खबर भी है। यह भी कि बगैर रफ-टफ हुए न तो आत्मरक्षा की जा सकती है, न सफर पूरा किया जा सकता है। फिर तुम जिस नववाम के साथ हो, वह अभिजातों का चिकना-चुपड़ा वाम तो है नहीं। इसमें तब झाड़-झंखाड़ भला क्यों नहीं होंगे? और क्या मैं मान लूँ कि तुम और तुम्हारा जीवन-बोध ऐसा नहीं है? सब कुछ एकदम निर्विघ्न और साफ-सुथरा है?' मेरे तर्कों को वह गौर से सुनता और मैंने पाया कि संग्रह छपा तो कविता वहाँ थी। उसमें मेरे हाथ में संग्रह देते हुए फिर कहा - 'दिल्ली वाले दोस्त कह रहे थे कि आखिर तुमने यह कविता शामिल कर ही दी।' - जैसे कि वह अभी आश्वस्त नहीं हो पाया था। उसे दिल्ली वालों पर बहुत भरोसा था, खास तौर से कवि मित्रों पर। फिर भी उसने महसूस किया कि कल्पना तो उसी की है, मैंने तो उसे रचा नहीं। आज कह सकता हूँ कि उसकी कविता जीवन की भाषा के बेहद करीब थी। इसलिए भरोसेमंद भी वह रही। एकदम किसी भरोसेमंद दोस्त की तरह। कारण? उसकी कविताएं जानती थीं कि 'दिल्ली-दिल्ली है और श्रीकाकुलम श्रीकाकुलम/और दोनों के बीच की दूरी/में/चलता हुआ मैं/गिर जाऊँ तो भी/... मर जाऊँ तो भी/वेणु गोपाल ही रहूँगा।' इसी कविता में कवि ने अपना यह स्टैण्ड भी दर्ज किया-

मक्कार हथेलियों
साहित्य की खो-खो मुझसे तो नहीं
खेली जायेगी...

या कि 'रात की जगह/दिन कह देने से तो/मेरा मकसद साफ नहीं होता।'

मेरी जिन्दगी से पहले कविवर भवानी मिश्र गए, फिर नागार्जुन, शलभ गया तो वसंत पोतदार भी उठकर चला गया। एक जो कटा-पिटा फिर भी जब-तब मोबाइल पर मुझे अपने सुख-दुख में शामिल करता जैसे-तैसे मेरे लिए किसी एहसास की तरह बच रहा था, अब वो भी चला गया। विनय दुबे जैसे मित्रों के जाने के साल भर के बीच ही। इधर उसने नए सिरे से लिखना शुरू किया था। जीना भी। उधर मौत भी उसे तरह-तरह से घेरने में लगी थी। वह भला अपने धंधे से बाज क्यों आती और वह उसे ले ही गई आखिर।

सोचता हूँ तो वह रास्ते में मौत से कह जरूर रहा होगा - 'क्यों आफत मोल ले रही हो, मैं वेणु गोपाल हूँ।'

विजय बहादुर सिंह वरिष्ठ आलोचक और भवानी प्रसाद मिश्र तथा नंद दुलारे बाजयेयी की ग्रंथावली के संपादक हैं। वेणु के साथ उन्होंने लम्बा समय व्यतीत किया था। पाठक, वेणु गोपाल पर वीरेन डंगवाल का एक शोक लेख 'आज समाज' दिल्ली के 8 सितम्बर के अंक में पढ़ सकते हैं।

“हमारी पीढ़ी के तमाम कवियों को अपनी कविता की शुरुआती राहें टटोलने और अपना वैचारिक ढांचा दुरुस्त करने-रखने में वेणु गोपाल की कविता से काफी रोशनी मिली है। वह एक साथ वैश्विक और साथ ही बेहद स्थानिक भी, कवि है जो शायद एक अच्छे कवि को होना चाहिए। 'चट्टानों का जलगीत' और 'पत्थरों में गोताखोरी' शृंखला की कविताएं, कुछ मुक्तिबोधी भूगोल में मनुष्य के संघर्ष का बखान करती हैं जबकि 'प्रौक्सी' और 'देखना भी चाहूं' शीर्षक लंबी कविताएं 'स्वतंत्र' भारत के उस राजनीतिक पाखंड का, जिसने हर वस्तु-भाव और विचार का डुप्लीकेट तैयार कर दिया है।” - वीरेन डंगवाल